विद्यापति और उनका दार्शनिक दृष्टिकोण

लेखक

प्रभावती झा

मैथिल कोकिल महाकवि विद्यापति का आसन लोकभाषा के कवियों के बीच सबसे ऊँचा है। "उनका काव्य संसार की क्षणभंगुरता और असारता की भावना के बीच जगत् और मानव जीवन की महत्ता का उद्घोष करनेवाला लौकिक काव्य है"।[1] जीवन के रागात्मक पक्ष को स्वीकार कर उसके उन्नयन करने का, काव्यात्मक प्रयत्न करने का प्रमुख श्रेय महाकवि को प्राप्त था। जीवन के कठोर संघर्ष से जूझकर, वेदना के आतप से शान्त और क्लान्त होकर मानव को मृदुल मोहक सौंदर्य की स्निग्ध छाया में कुछ क्षणों के लिए विश्राम करने का सुख कविकोकिल की रमणीयार्थ-प्रतिपादक पदावली में भरपूर उपलब्ध होता है।

महाकवि के व्यक्तित्त्व को उदात्त गुणों का अधिष्ठान कहा जा सकता है। "विद्यपति संसार के सौंदर्य से प्रेम करनेवाले, मानव के रागात्मक संबंधों में आस्था रखनेवाले और तन मन की सहज-स्फूर्त कामनाओं को स्वीकार करनेवाले काव्यकार थे। उनका चित्त अनुरागी था उन्हें विरक्त साधु या सन्यस्त सन्त समझना भूल होगी"।[2]

वस्तुतः विद्यापति को किसी वर्गविशेष, जातिविशेष या स्थानविशेष की सीमा में आबद्ध कर देना, उसी प्रकार युक्ति-युक्त नहीं होगा जिस प्रकार उनकी धार्मिक मान्यताओं को सोमांकित करना उपयुक्त नहीं होगा।

जिस भाँति गंगोत्री से निकली गंगा को हरद्वार में विस्तार प्राप्त होता है उसी भाँति मैथिली काव्य का विस्तार भी ओइनवार साम्राज्यकाल में हुआ।

तत्कालीन कवियों में विद्यापति मार्ग-दर्शक थे। उनके दिशा-निर्देशन में मैथिली कविता की धारा उद्दाम वेग से प्रवाहित हो चली। उससे केवल मिथिला ही नहीं, अपितु भारत का समस्त पूर्वोत्तर भूभाग आप्लावित हो गया।

"पिपासा, बुभूक्षा, कामवासना आदि नैसर्गिक इच्छाओं की नई जिज्ञासा (जानने की इच्छा) भी मनुष्य की एक सनातन, व्यापक और प्रबल नैसर्गिक इच्छा है"।[3]

---

१ विद्यापति पदावली : संपादक एवं भाष्यकार—श्री कुमुद विद्यालंकार तथा श्री जयवंशी झा (डा० विजयेन्द्र स्नातक लिखित भूमिका से)

२ वहीं।

३ गवेषणा (दर्शन, मनोविज्ञान, परामनोविद्या, समाज शास्त्र इत्यादि विषयों की त्रैमासिक पत्रिका, वर्ष प्रथम, जून १९६४, अंक प्रथम) की सम्पादकीय टिप्पणी।

दर्शन मानव ज्ञान की एक प्रमुख शाखा है। वस्तुतः वह एक निष्पक्ष बौद्धिक प्रयत्न है। इसी प्रयत्न के द्वारा वह विश्व को उसकी संपूर्णता में समझने का प्रयास करता है। मानव एक ऐसा प्राणी है जो प्रकृति-दत्त और जन्मजात काम-चलाऊ ज्ञान से संतुष्ट न होकर अपने ही प्रयत्न से सब कुछ जानने की इच्छा करता रहता है। मानव जीवन की विशेषता है कि वह केवल जीता ही नहीं है, बल्कि जानता है कि वह जीता है।

"परन्तु मनुष्येतर प्राणियों के ज्ञान में और अन्य प्राणियों के ज्ञान में यह भेद है कि मनुष्य का ज्ञान अपने प्रयत्न द्वारा और नाना प्रकार के साधनों के प्रयोग द्वारा स्वयं प्राप्त किया जाता है जब कि दूसरे प्राणियों को जितने ज्ञान की उनके जीवन के लिए आवश्यकता होती है प्रकृति स्वयं उनको बिना उनके विशेष प्रयत्न किए अपने-आप ही दे देती है"।[४]

विद्यापति ने इस जगत् को उसकी संपूर्णता में समझने का प्रयास किया है। संसार की असारता और ब्रह्मवाद के प्रतिपादन में उनकी यह संपूर्णता स्पष्टतः परिलक्षित हो जाती है। माधव से कवि निवेदन करना है—"मैंने अपना आधा जनम नींद में गमा दिया; बुढ़ापा और शैशव में भी कितने ही दिन खो दिए। वैभव के वन में सुन्दरियों के साथ रसरंग में भूला रहा। (यौवन इसी तरह व्यतीत हो गया, अंतिम समय में सोचता हूँ)–तुम्हारा भजन किस समय करूँगा"?[५] वस्तुतः मनुष्य का असली उद्देश्य है जीवन को समझकर उसे ठीक दिशा में चलाना। "इसी के लिए जीवन के कल्याण-साधन के लिए ही, उसे ईश्वर तथा अन्य देवी देवताओं की आवश्यकता पड़ती है"।[६] भारतीय दर्शनों में व्यावहारिक उद्देश्य को प्रधानता दी गयी है। संसार में अनेक दुःख हैं, जिनसे जीवन सर्वथा अंधकारमय बना रहता है। विद्यापति को भी दुःखों के कारण मन में अशांति थी, जो उनके परवर्त्ती पदों में स्पष्टतः परिलक्षित हो जाती है। इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानसिक अशांति से ही विचोरोत्पत्ति होती है। इसे दृष्टि में रखकर देखा जाय तो "वेदानुकूल या वेद-विरोधी जितने भी दर्शन हैं, सबों में दुःख निवारण के लिए ही विचार की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है, इसे जानने के लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखों का किस तरह नाश

---

४ वहीं।

५ "आध जनम हम नींद गमाओल
जरा सिसुक्त दिन गेला।
निधुवन रमनि रभस रंग मातल
तोहि भजब कोन बेला।।"
विद्यापति की पदावली : संकलियता रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० सं० ३१४

६ भारतीय दर्शन का इतिहास, डा० नन्दकिशोर देवराज तथा डा० रामानन्द तिवारी, पृ० सं० ६

हो, इसके लिए सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अन्तर्निहित तत्वों का अनुसंधान करते हैं" ।[७]

साहित्य सामाजिक जीवन का बैरोमीटर है । जिस प्रकार बैरोमीटर के द्वारा हम हवा के दबाव की जानकारी प्राप्त करने के अतिरिक्त वातावरण में संघटित होने वाले आसन्न परिवर्तनों की भी पूर्व सूचना पा लेते हैं, उसी प्रकार साहित्य भी हमें वर्त्तमान के साथ विगत और आगत का प्रामाणिक ज्ञान देने में प्रायः समर्थ होता है । विशेष रूप से महाकवियों की वाणी उस अश्वत्थ की भाँति होती हैं जिसकी जड़ें गहराई तक लोकजीवन की धरती में गड़ी रहती है और जिसका शीर्ष काल के दारुण संघातों को झेलकर भी सदैव हरा-भरा रहता है, वातावरण को विरुपताओं पर मुस्कुराता और उनसे रस-ग्रहण करता है । विद्यापति निस्सन्देह एक ऐसे ही लोक सम्मत महाकवि थे । "... विद्यापति ने सौन्दर्य वर्णन करते समय उसे सौन्दर्य शब्द से उपात्त न करके 'अपरूप', 'अपूरब', 'अपरूव' आदि शब्दों मे उपात्त किया है" ।[८]

महाकवि ने केवल सौन्दर्य को देखा था, अपितु उन्हें उसका अनुभव भी हुआ था । "विद्यापति की मान्यता है कि सौन्दर्य तो शाश्वत और सत्य है तथा वह मंगलमय भी है" ।[९] जिस वस्तु से चक्षु-इन्द्रिय के माध्यम से हम मधुर अनुभूति का अनुभव करते है, उस वस्तु का समन्वित प्रभाव ही सौन्दर्य है । यह सौन्दर्य वस्तु का निजी गुण है न कि द्रष्टा के चक्षुओं की उपज । यदि कोई व्यक्ति प्रज्ञा-चक्षु होने के कारण और अपनी किसी न्यूनता के कारण सुन्दर वस्तु से सौन्दर्यानुभूति प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उससे वह वस्तु असुन्दर नहीं कही जा सकती । "हमारी चक्षु-इन्द्रिय को सौन्दर्यबोध की ऐसी क्षमता प्राप्त है कि बिना किसी वस्तु की लम्बाई, चौड़ाई नापे, बिना उसके गुणों की सूची बनाए वह एक ही झलक में सुन्दर और असुन्दर का निर्णय कर देती है" ।[१०] हम जानते हैं कि जिन्होंने सत्य को ग्रहण किया है वे ईश्वर संबंधी सिद्धान्तों या उसके पास पहुँचने के मार्गों की सापेक्ष्यता के प्रति निष्ठावान हैं । विद्यापति इससे अनवगत नहीं थे कि हिन्दू धर्म में सत्य एक अनुभूत यथार्थ है ।

वह एक ऐसी ज्योति है जो मनुष्य में स्थित अतीन्द्रिय तत्त्व द्वारा उस अखंड जगत् में प्रकट होती है जो इन्द्रिय एवं बुद्धि में प्रतिबिम्बित है—एक पदार्थ जगत्, जिसमें आकर वह ज्योति धूमिल पड़ जाती है । धर्म विचारों में परस्पर-विरुद्धता तो तब उत्पन्न-

७ भारतीय दर्शन : सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त, पृ० सं० ८
(हिन्दी रूपान्तर : प्रो० हरिमोहन झा तथा श्री नित्यानन्द मिश्र)

८ विद्यापति पदावली : संपादक एवं भाष्यकार श्री कुमुद विद्यालंकार तथा श्री जयवंशी झा
(समीक्षात्मक भूमिका से पृ० सं० ८२)

९ वहीं ।

१० हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी : डा० गणपति चन्द्रगुप्त, पृ० सं० ३६-३७

होती है जब हम आत्मिक जीवन पर उन धारणाओं का आरोप करते हैं जो इहलौकिक जीवन से ली गई हैं और उन्हीं के लिए उपयुक्त हैं।

प्रकृति को पुरुष की सहचरी बताया गया है। वस्तुत: मानव जीवन को विभिन्न रूपों में प्रभावित करनेवाली, उसे चेतना और प्रेरणादायिनी माया शक्ति के रूप में प्रकृति की भारतीय वाङ्मय में अभ्यर्थना निवेदित हुई है। प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों के संतुलन और सहयोग में ही जीवन की सफलता कही गई है। "प्रकृति या वातावरण के प्रति जागरुकता कलाकार का एक अनिवार्य गुण-धर्म है। इस जागरुकता के आधार पर ही हम कलाकार के प्रकृति पर्यवेक्षण का मूल्यांकन कर सकते हैं"।[११]

वृन्दावन की लीलाओं में कृष्ण पुरुष हैं और गोपियाँ प्रकृति। हमारे मन में आत्मा के प्रति वैसी ही आसक्ति रहनी चाहिए जैसी कि परकीया नायिका के मन में अपने उपपत्ति के प्रति होती है। परकीय भाव में अपने प्रिय का निरन्तर चिन्तन, मिलन की उत्कंठा और दोष-दृष्टि का अभाव हैं।

विद्यापति के काव्य में प्रकृति के प्रति जागरुकता अत्यन्त सजीव रुप में वर्णित हुई है। विभिन्न अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं के बीच एक प्राणी को दूसरे प्राणी के बीच लाने की चेष्टा सनातन काल से ही होती आ रही है।

" प्रेमी-प्रेमिकागत पारस्परिक सौन्दर्याकर्षण, पारस्परिक संभोगेच्छा एवं मधुर मिलन की बदलती आकांक्ष ही संसार के सारे कार्यक्रम में प्रेरक तत्व हैं"।[१२] विद्यापति मध्ययुगीन दरबारी कवियों की परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी होते हुए भी जन जीवन के प्रति पूर्ण सचेष्ट थे। हम जानते हैं कि प्रकृति चित्रण में लेखक की रुचि और संस्कार का बहुत बड़ा हाथ होता है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के रंगीन चश्मे से प्रकृति को देखता है। चिरनावीन्य से तात्पर्य है दृष्टिकोण की भिन्नता और उसका हर क्षण परिवर्त्तन। "एक ही कवि किसी वस्तु को एक क्षण में कुछ देखता है और दूसरे क्षण में कुछ। प्रकृति का यह निरीक्षण लेखक के सौन्दर्य बोध (सेन्स ऑफ ब्यूटी) से निश्चित अनुचालित होता है"।[१३] जीवात्मा की योनियों में मनुष्य की योनि को सफल माना गया है। यह योनि साधना तथा मुक्ति की दृष्टि से सफल है। इस योनि में भी श्रेणियाँ हैं। "अवतार, ऋषि, मुनि, सन्त, आचार्य, पंडित, श्रीमान, शासक ये विशिष्ट श्रेणियाँ है"।[१४] इन विशिष्ट श्रेणियों में सीमित संख्यक मनुष्य का जन्म होता है। फिर विद्यापति इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य अपने सफल कार्यों की मीमांसा कला तब प्रारंभ करता है जब कर्त्तव्य निभाने का समय बीत गया होता है। मनुष्य का बचपन खेलने-

११ विद्यापति : श्री शिव प्रसाद सिंह, पृ० सं० १६४
१२ मधुर रस : स्वरूप और विकास —श्री रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव', पृ० सं० ६९
१३ विद्यापति : श्री शिव प्रसाद सिंह पृ० सं० १६४
१४ लघु पराशरी भाष्य (कालचक्र दशा सहित) भाष्यकार दीवान चन्द्र कपूर, पृ० सं० ११४-११५

खाने में व्यतीत हो जाता है, जवानी प्रभावों में बीतती है और वृद्धावस्था मे वह यह सोचने को विवस हो जाता है कि उसने 'कुछ' भी नहीं किया।

समाज जिन बातों को श्रेयस्कर, उत्तम और प्रतिष्ठापक मानता है, व्यक्ति-विशेष उस ओर प्रवृत हो पुरुषार्थं से उसे प्राप्त करके अपने को गौरवान्वित करता है, किन्तु प्राप्त कर भी उससे सुख-दुःख उठा सकना उसके प्रारब्ध का ही फल है। अनेक धन संपत्ति प्राप्त कर भी उसे न भोग सकना इसका एक उदाहरण है। तभी तो कवि ने स्वीकार किया है—"मैंने प्रयत्न करके जितना भी पाप द्वारा धनोपार्जन किया उसे परिवार के लोग मिल जुल कर उड़ा रहे हैं। (किन्तु मुझे) मरने के समय, हे कृष्ण! कोई भी नहीं पूछता, अब तो एक (मेरा) कर्म ही मेरे साथ जायगा"।[१५] भारतीय दर्शनों का एक और सामान्य धर्म है जिसका कर्मवाद के साथ गहरा संबंध बताया गया है। इसके अनुसार संसार "मानो एक रंग मंच है जिसमें मनुष्यों को कर्म करने का अवसर मिलता है। जिस तरह रंग मंच पर नाटक के पात्र सजधज कर आते हैं और पात्र-भेद के अनुसार नाट्य करते हैं, उसी तरह मनुष्य इस संसार के मंच पर शरीर इन्द्रिय आदि उपकरणों से सज्जित होकर आता है तथा योग्यतानुसार अपना कर्म करता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना कर्म नैतिक ढंग से करे जिससे उसका वर्त्तमान तथा भविष्य सुखमय हो। शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, बाह्य परिस्थिति आदि विषय ईश्वर से अथवा प्रकृति से तो मिलते हैं किन्तु उनकी प्राप्ति पूर्वार्जित कर्म के अनुसार ही होती है"।[१६] भारतीय दर्शन के इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही विद्यापति ने कर्मवाद का समर्थन किया है।

जीवन का वास्तविक आधार होने के कारण हमारे सामने सबसे पहले आता है प्राकृतिक सत्य। हालाँकि प्राकृतिक सत्य का अनुसंधान आगे चलकर वैज्ञानिकों ने भी किया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण शुद्ध सांस्कृतिक धरातल पर आधारित रहा है। ऐसा लगता है कि इस दिशा में जीवन के रक्षण और पोषण का दृष्टिकोण ही आदिमकाल में प्रमुख रहा होगा। विद्यापति की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने कहीं भी ऐसी बात नहीं लिखी है जो मानव के योगक्षेम के विरुद्ध हो। महाकवि ने पदावली के विभिन्न स्थलों में सामूहिक रूप से मानव कल्याण की बातें कहीं हैं। स्मरणीय है कि भावों की पराकाष्ठा में स्वाभाविकता का संग नहीं छूटता। कवि की मौलिक उद्‌भावना तो देखें—"कमल के बिना तालाब, तालाब के बिना कमल और सूर्य के बिना क्या कमल की शोभा

---

१५ "जतने जतेन धन पाप बटोरल
मिलि-मिलि परिजन खाए।
मरनक बेरि हरि केओ नहि पूछए
एक करम संग जाए।।"
विद्यापति की पदावली, संक०—रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० सं० ३१५

१६ भारतीय दर्शन : सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त, पृ० सं० ११ (हिन्दी रुपकार प्रो० हरिमोहन झा तथा श्री नित्यानन्द मिश्र)

हो सकती है ? यौवन के बिना शरीर तथा शरीर के बिना यौवन और प्रिय-विरह में क्या यौवन खिल सकता है"।[१७]

जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से तथा शब्द के माध्यम की सुलभता के कारण सभ्यता के विकास क्रम में सत्य का अनुसंधान भी बढ़ता गया है। आरंभ में उपयोगिता की दृष्टि से मनुष्य की सत्यों में रुचि रही होगी, किन्तु जीवन की सुरक्षा और सुविधा बढ़ने के साथ-साथ निरुपयोगी भाव से भी सत्य का अनुराग बढ़ता गया होगा। बहु-पत्नीत्व के अभिशाप से पीड़िता नारी की मर्मव्यथा का कवि ने करुण विगलित चित्र उतारा है। नायिका कहती है—सबसे प्रथम कल्प तो यही है कि (दुनिया में) जन्म ही न हो (क्योंकि जन्म ही सभी दुःखों का कारण है)। महाकवि ने यह सूचित किया है कि भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य दुःखनिवृति ही है। "कदाचित् जन्म हो तो फिर युवती होकर किसी का जन्म न हो। (शास्त्र के अनुसार स्त्रियों को साक्षात् मुक्ति नहीं मिलती। इसलिए उनकी चरम दुःखनिवृत्ति नहीं होती। अस्तु, शास्त्र ने स्त्रियों का पाप योनि कहा है)। कदाचित् युवती ही होकर जन्म ले तो रस को आस्वादन करनेवाली न हो। रस के स्वरूप को जानने वाले ही रस को न पाकर उसके विरह में पागल हो जाते हैं और परिणाम बहुत ही भयंकर होता है। कदाचित् युवती होकर रस को जाननेवाली हुई तो फिर भी वह कुलवधू न हो, क्योंकि कुलवधू होने से वह लज्जा के पालन में व्यग्र रहती है; रस के अनुभाव से सर्वदा वंचित रहकर अपने अन्तःकरण ही को दुःखाग्नि में जलाती रहेगी और लज्जा के कारण अपने मुख से एक शब्द भी नहीं निकाल सकेगी; फिर वह हमेशा दुःखी रहेगी। अतएव नायिका विधि से यही एकमात्र वर माँगती है कि अन्त में भी मैं स्थिर रह सकूं जिससे मुझे नागर (अर्थात् गमार नहीं) और रसाधार स्वामी अगले जन्म में मिले एवं वह परवश न हों"।[१८] इसका अभिप्राय है कि मरने के समय जिस भाव को रखकर कोई मरता है, उस भाव की पूर्ति दूसरे जन्म में होती है।

---

१७ "सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन तन बिनु जौवन
की जौवन प्रिय दूरे।।"   —विद्यापति

सपादक—खगेन्द्रनाथ गुप्त तथा विमानबिहारी मजुमदार, पृ० सं० १२१, पद सं० (१६३)

१८ "जनम होअए जनि जओं पुनि होइ
जुवती भए जनमय जनु कोइ।
होइइ जुवति, जनु हो रसमनित,
रसओ बुझए, जनु हो कुल मति।
हे वर (धन) भागओ विहि एक पए तोहि,
थिरता दिहट अवसानहु मोहि।
मिलि सामि नागर रसधाए
परवस जनु होअ हमर पियार।

हम जानते हैं कि भारतवर्ष ने केवल वाह्य रूप को कभी स्वीकार नहीं किया है। उसने सतत् आभ्यन्तरिक सौंदर्य का मधुपान किया है, आत्मा के अमर सौंदर्य में अपने को नहलाया है। यर्थाथवाद (रियलिज्म) इसी कारण भारतीय कला का कभी प्रेरक तत्व नहीं हुआ। "इन्द्रियता में अतीन्द्रिय का दर्शन ही भारतीय कला की स्फूर्ति का कारण रहा है। भारतीय कला केवल प्रकृति को नहीं देखती, प्रकृति के भीतर के सजीव संकेत, अमर इशारे को देखती है। सृष्टि के प्राणपिंड में जो गति है और उस गति के कारण ही बाहर जो चहल-पहल है उसे ही भारतीय कला साक्षात्कार करना चाहती है—समस्त सौंदर्य जिसकी अभिव्यक्ति मात्र है"।[१९]

परात्पर रूप जब अपने को व्यक्त करता है तब उसे हम सुन्दर कहते हैं। भारतीय वैष्णव साधना ने इस अमर सौंदर्य को ही सृष्टि का सनातन प्राण माना है। "ब्रह्म की एकोऽहं बहुस्यां की अमूर्त्त वासना से निखिल ब्रह्माण्ड का विराट् अभिनय प्रारंभ हुआ, क्योंकि वह 'एकाकी' आनन्द का उपभोग नहीं कर पाता था। आनन्द की उपलब्धि तो दो से ही होती है। उसी 'एक' से ही अनेक की सृष्टि हुई, इसीलिए मूल रूप से अनेक के हृदय में उस 'एक' के लिए ही भूख-प्यास है; और उस एक में लय हुए बिना अनेक को शांति नहीं, आनन्द की उपलब्धि नहीं"।[२०]

यदि महाकवि विद्यापति को समन्वयवादी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं। उनकी दृष्टि से शिव और विष्णु का भेद तात्त्विक नहीं औपचारिक है। उनका कथन है—"हे हर ! तुम अच्छे हो, हे हरि तुम भी अच्छे हो और तुम्हारी कला भी अच्छी है। क्षण में तुम पीताम्बरधारी बनते हो तो क्षण में व्याघ्र-चर्म को अपनाते हो। क्षण में पाँच मुख वाले होते हो तो क्षण में चतुर्भुज दीखते हो, (तात्पर्य यह कि) तुम क्षण में शंकर हो—फिर क्षण में विष्णु"।[२१]

भारतीय तत्व ज्ञान इस बात को स्वीकार करता है कि चित्त, मन, बुद्धि पंचेन्द्रिय और पंच प्राण स्वयं में जड़ अथवा अव्यक्त के ही भाग हैं। इनमें अपनी कोई गति नहीं हैं।

होइह परवस बुझिअ विचारि
पाए विचार हार कओन नारि।"
—विद्यापति ठाकुर : डा० उमेश मिश्र, पृ० सं० ११४

१९ मीरा की प्रेम साधना : डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', पृ० सं० ४६

२० वहीं : पृ० सं० ३३-३४

२१ "भल हर भल हरि भल तुअ कला।
खनपति वसन खनहि बघछला।
खन पंचानन खन भुज चारि।
खन संकर खन देव मुरारि।।"
विद्यापति : संपादक खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमान विहारी मजुमदार, पृ० सं० ५०५, पद सं० ७७३

ये सभी जीवात्मा की गति शक्ति से संप्रेरित होकर चलते हैं। जब तक जीव की सत्ता मौजूद है, तभी तक इन सब में गति है; जीव-विमुक्त होने पर ये सब जड़ और निरुपयोगी हो जाते हैं। जीव विषयक कल्पना भारतीय दर्शन की उदात्त परिकल्पना है। इस विषय में अनेक विवादों के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर आए हैं कि जीवात्मा ईश्वर का अंश है। पंचेन्द्रिय देह का कोई न कोई अभिमानी 'देही' अवश्य है। इन्द्रियों को अपना ज्ञान नहीं होता, किन्तु इन्द्रियों की प्रेरणाशक्ति जीव को इन्द्रियों का ज्ञान होता है। महाकवि को इस सार तत्त्व का सम्यक ज्ञान प्राप्त था। उनके प्रार्थना विषयक एक पद का अर्थ है कि "तप्त बालुका राशि पर पड़े जल बिन्दु के समान सुत, मित्र और कामिनियों के समूह ने मुझे अस्तित्वहीन बना दिया। तुम्हें भुलावर मैंने अपना मन उन्हें समर्पित कर दिया (समझ नहीं पाता कि) अब मेरा क्या उपाय होगा? हे माधव! हमें परिणाम स्वरूप निराशा मिली है। (फिर भी) तुम जगत् का उद्धार करने वाले हो, दोनों के प्रति दयावान हो, इसलिए तुम्हारा ही भरोसा है"।[२२]

विद्यापति के इस पद में नैराश्यवाद की स्पष्ट झलक मिल जाती है। यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य साधारणतः अपने उद्वेगों एवं तृष्णाओं के वशीभूत होकर जीवन यापन करता है। उसके उद्वेग अज्ञान से भरे होते हैं तथा उसकी तृष्णाएँ सहज शांत नहीं होती। नतीजा यह होता है कि उसके दुःखों का अंत नहीं हो पाता। वे अधिकाधिक बढ़ते हीं जाते हैं। कोई भी दर्शन इस प्रकार जीवन को सर्वथा दुःखमय बता कर निश्चिन्त नहीं हो सका। भारतवर्ष का प्राचीन नाटक भी शायद ही दुःखान्त होता था। यह भी भारतीय विचारधारा का ही प्रभाव जान पड़ता है। परन्तु भारतीय दर्शन निराशावादी नहीं है। वह यथार्थतः निराशा नहीं होता, वरन् संसार की दुःखमय परिस्थिति को दूर करने के लिए भरपूर प्रयत्न करता है। महाकवि विद्यापति थोड़ी देर के लिए निराश अवश्य दीख पड़ते, किन्तु उन्हें जगत् का उद्धार करने वाले माधव में विश्वास है। भारतीय दर्शन की उत्पत्ति 'नैराश्य' से भले हीं हो किन्तु अंत में वह आशा का ही मार्ग दिखलाता है। "युक्ति हीन आशा की अपेक्षा नैराश्यवाद का प्रभाव ही जीवन पर अधिक हितकर है"।[२३] मुद्रित अथवा हस्तलिखित रूप में प्राप्य विद्यापति की रचनाओं जैसे दुर्गा भक्ति

---

२२ "तातल सैंकत बारि विन्दु सम
सुत मित रमनि समाजे।
तोहे बिसारि मन ताहि समरपल
आब होएब कोन काजे॥
माधव, हम परिनाम निरासा
तोहे जगतारन दीनदयामय
अतए तोहर बिसबासा"
—विद्यापति पदावली-बेनीपुरी संकलन, पृ० सं० ३१५

२३ भारतीय दर्शन, (प्रथम भाग) राधाकृष्णन, पृ० सं० ४९-५०

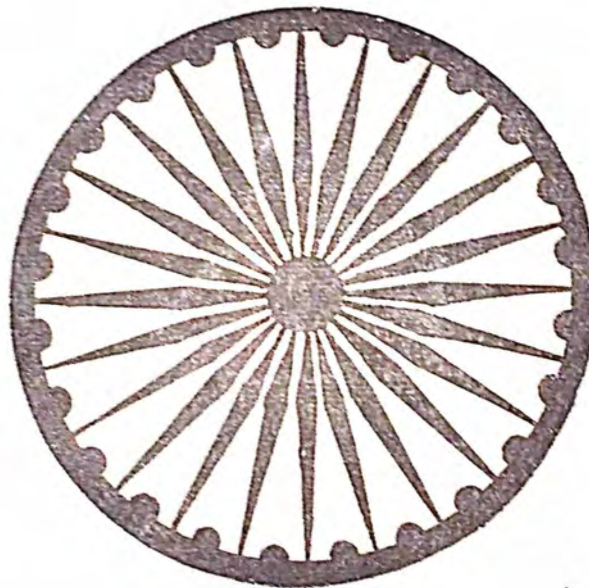
तरंगिणी, भूपरिक्रमा, शैवसर्वस्वसार, गंगावाक्यावाली, दान वाक्यावली, लिखनावली, पुरुष परीक्षा, गयापत्तलक, वर्षकृत्य, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, विभागसार, पदावली आदि में तद्युगीन समाज का विविध वर्णन उपलब्ध होता है। इनमें से किसी एक रचना को एक लेख के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप पुरुष परीक्षा पर विचार करते समय उसमें एक साथ धर्म, राजनीति, सामाजिक संगठन, अर्थ नीति, संस्कृति आदि पर सामग्री मिल जाती है। कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली आदि के संबंध में भी यही बात है।

THE JOURNAL
OF
THE BIHAR RESEARCH SOCIETY
Dr. K. K. Datta Felicitation Volume

Vol. LIX	January-December, 1973	Parts I-IV

CHIEF EDITOR

Dr. Jatashankar Jha, M. A., Ph. D.



PUBLISHED BY

THE BIHAR RESEARCH SOCIETY, PATNA

Price Rs. 30·00